THE ECONOMIC TIMES

Date: 14-09-18

Sinking Deeper Into the MSP Mire

Farming's global competitiveness at risk

ET Editorials

The political compulsion to be seen to be doing something earnest to address farm distress is entirely understandable, but expanding the scheme of minimum support prices (MSP) for crops is not the right solution. The government already runs a very expensive MSP scheme for the grains covered by the National Food Safety Act: rice, wheat and coarse grains.Offering MSP for crops without reference to efficiency prices is the surest way to kill the global competitiveness of Indian farm produce. For the government to procure huge amounts of any farm produce without a plan for how to offload the stocks is a prescription for financial loss and waste.

Schemes for the government to make good the difference between the MSP it announces and the market price end up in traders colluding to beat down the market price so as to get a liberal handout from the government. India has to move out of the MSP paradigm to boost agricultural productivity.MSP is computed as a mark-up over the cost of production. The cost can be computed in either of two ways. One is dubbed in the jargon as A2 + FL — the actual cost of all purchased inputs and the imputed cost of unpaid family labour.

A broader measure is C2 + FL, in which, the imputed rental of the land used for cultivation and the income forgone from alternative uses of other fixed capital used in cultivation is added to A2 + FL. If costs are reimbursed via MSP, the incentive to minimise costs is eroded. The way to support agriculture has to shift to something else. Farmers can be given income support linked to how much land they cultivate, regardless of crop, as the government of Telangana has started to.

Choice of crop and the cost of cultivation should be left for the farmer to determine, in response to price signals emanating from an efficient market for agricultural commodities, in which global prices play the role they place for tradable industrial goods. The bulk of state assistance for farming must go into investment, not subsidy. The subsidy strategy, diligently followed hitherto, has only produced distress. It is time to accept it.

Date:14-09-18

दैनिक भास्कर

26 वर्षों में देश का 34 फीसदी तटीय इलाका समुद्र में डूबा

देश में कुल तटीय रेखा में से 6,031 किमी का ही सर्वेक्षण किया गया। पश्चिमी तट के मुकाबले पूर्वी तट पर यह समस्या ज्यादा गंभीर है और इस मामले में पश्चिम बंगाल का तटवर्ती इलाका सबसे संवेदनशील है। सबसे ज्यादा भूमिकटाव यहीं हुआ है। बंगाल की खाड़ी के तटीय इलाकों में यह समस्या ज्यादा गंभीर है। इसके बाद पुडुचेरी, केरल और तमिलनाडु का स्थान है।

नुकसान की भरपाई मुश्किल

चेन्नई स्थित एनसीसीआर की ताजा रिपोर्ट के मुताबिक तटीय इलाकों में भूमिकटाव आसपास रहने वाली आबादी के लिए बड़ा खतरा बन गया है। अगर शीघ्र इस पर अंकुश की दिशा में पहल नहीं की गई तो और ज्यादा जमीन व आधारभूत ढांचा समुद्र में समा जाएगा। इस नुकसान की भरपाई मुश्किल है। इससे तटीय इलाकों में स्थित गांवों व शहरों में रहने वाली आबादी, इमारतों और होटलों को भारी नुकसान पहुंचेगा। एनसीसीआर के निदेशक एमवी रामन्ना मूर्ति की मानें तो तटीय इलाकों के पानी में समा जाने से खेती को भी काफी नुकसान होता है। रिपोर्ट के मुताबिक नौ राज्यों और दो केंद्रशासित क्षेत्रों में भूमिकटाव का खतरा लगातार बढ़ रहा है। वर्ष 1990 से 2016 के बीच देश के तटवर्ती इलाकों में 34 फीसदी यानी एक-तिहाई जमीन को भूमिकटाव की गंभीर समस्या का सामना करना पड़ा है।

विशेषज्ञों के अनुसार देश के पूर्वी तट पर कटाव का खतरा पश्चिमी तट के मुकाबले गंभीर है। बंगाल में बीते 26 वर्षों के दौरान 63 फीसदी तटीय रेखा समुद्र में समा चुकी है। इसके बाद पुडुचेरी (57 पीसदी), ओडिशा (27 फीसदी) और आंध्र प्रदेश (27 फीसदी) का स्थान है। वैसे हर राज्य में भूमिकटाव के कारण अलग-अलग हैं। लेकिन लहरों के पैटर्न में आने वाला बदलाव, उसकी तीव्रता, तूफान और निम्न दबाव की वजह से होने वाली भारी बारिश के कारण नदियों से आने वाले गाद में कमी, बढ़ता जलस्तर और तटीय इलाकों में बड़े पैमाने पर निर्माण जैसी मानवीय गतिविधियां ही मुख्य रूप से इस हालत के लिए जिम्मेदार हैं।

सुंदरवन के दो द्वीप डूबे

पश्चिम बंगाल में तटीय इलाकों के समुद्र में समाने का खतरा सबसे गंभीर है। भूमिकटाव के चलते सुंदरबन इलाके के लोहाचारा और सुपारीभांगा नामक दो द्वीप हमेशा के लिए बंगाल की खाड़ी में समा चुके हैं। अब सुंदरबन इलाके को दुनिया में डूबते द्वीपों की धरती के नाम से जाना जाता है। इसरो की ओर से सैटेलाइट के जरिए जुटाए गए ताजा आंकड़ों से साफ है कि इस इलाके में बीते एक दशक के दौरान 9,900 हेक्टेयर जमीन पानी में समा चुकी है। बंगाल देश

में दूसरा सबसे घनी आबादी वाला राज्य है। तटीय इलाके में स्थित मैंग्रोव जंगल वाले सुंदरबन में प्रति वर्ग किमी एक हजार लोग रहते हैं। यह आबादी आजीविका के लिए समुद्र और जंगल पर ही निर्भर है, लेकिन लगातार तेज होते भूमिकटाव और समुद्र के बढ़ते जलस्तर की वजह से इलाके से लोगों का पलायन तेज हो रहा है।

45 लाख आबादी पर

बढ़ा खतरा

पर्यावरण विज्ञानी कह रहे हैं कि सुंदरबन के विभिन्न द्वीपों में रहने वाली 45 लाख की आबादी पर खतरा लगातार बढ़ रहा है। इलाके में कई द्वीप पानी में डूब चुके हैं और कई पर यह खतरा बढ़ रहा है। पर्यावरण विज्ञानियों के मुताबिक खतरनाक द्वीपों के 14 लाख लोगों को दूसरी जगह शिफ्ट करने के साथ ही बाढ़ और तटकटाव पर अंकुश लगाने के लिए मैंग्रोव जंगल का विस्तार करने को प्राथमिकता देनी होगी। यहां समुद्र का जलस्तर 3.14 मिमी सालाना की दर से बढ़ रहा है। इससे कम से कम 12 द्वीपों का वजूद संकट में है।

आखिर क्यों बढ़ी भूमि

कटाव की समस्या

एनसीसीआर के निदेशक रामन्ना मूर्ति की मानें तो तटीय इलाकों में मानवीय गतिविधियां तेज होने की वजह से भी भूमिकटाव की समस्या तेज हुई है। बंदरगाह इलाकों में बड़े पैमाने पर गाद या तलछट निकालकर उसे गहरे समुद्र में फेंक दिया जाता है, लेकिन इनको तटीय इलाकों में फेंका जाना चाहिए। वैज्ञानिकों का कहना है कि जलवायु परिवर्तन और समुद्र के बढ़ते जलस्तर ने जहां समस्या की गंभीरता बढ़ा दी है, वहीं नदियों के बेसिन पर बनने वाले बांधों की वजह से तटीय इलाकों तक गाद का प्रवाह कम हो गया है।

कटाव रोकने के लिए ठोस

आंकड़े जुटाना जरूरी

रिपोर्ट तैयार करने वाले एम राजीवन कहते हैं, तट कटाव की समस्या पुरानी है, लेकिन इस पर अंकुश के प्रभावी उपाय तैयार करने के लिए इसकी माप-जोख कर ठोस आंकड़े जुटाना जरूरी है। उनके अनुसार हर राज्य में भूमिकटाव के कारण अलग-अलग हैं। इन वजहों का पता लगाने के लिए राज्यवार विश्लेषण के लिए दूसरे दौर का अध्ययन शुरू किया गया है। भू-वैज्ञानिकों का कहना है कि समस्या के बारे में तो सबको पता है, लेकिन संसद व सेमिनारों में बहस करने की बजाय इस पर अंकुश लगाने के लिए ठोस एकीकृत उपाय जरूरी है।

40% तक पहुंचा दक्षिणी राज्यों में भूमि कटाव

केरल, पुडुचेरी और तमिलनाडु जैसे दक्षिणी राज्य भी भूमिकटाव की समस्या से जूझ रहे हैं। केरल के तटीय इलाकों में भूमिकटाव का आंकड़ा 40 फीसदी तक पहुंच गया है। रिपोर्ट के मुताबिक अरब सागर के मुकाबले बंगाल की खाड़ी में निम्न दबाव और तूफानों की वजह से पूरे साल मौसम खराब रहता है। इससे भूमिकटाव के मामलों में तेजी आती है।

लेकिन दूसरे पश्चिमी राज्यों के मुकाबले केरल में भूमिकटाव की समस्या गंभीर इसलिए है कि अरब सागर के दक्षिणी हिस्से में लहरों की तीव्रता ज्यादा होने की वजह से केरल के तटीय इलाके ज्यादा प्रभावित हैं। पश्चिमी तट के दूसरे राज्यों मसलन गोवा, महाराष्ट्र, गुजरात, दीव व दमण में यह समस्या गंभीर नहीं है।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 14-09-18

प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को लेकर भ्रम और दुविधा बरकरार

कनिका दत्ता

भारतीय अर्थव्यवस्था के उपभोक्ताओं से जुड़े दो क्षेत्र एक के बाद एक सरकारों के कार्यकाल में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई) के मामले में पिछड़े रहे। इनमें विमानन क्षेत्र और खुदरा शामिल हैं। व्यापक नीतिगत रुख की बात करें तो वह कारोबारी हकीकतों से दूर नजर आती है। विदेशी डॉलरों का स्वागत है लेकिन विदेशी स्वामित्व और प्रबंधन का नहीं। कुछ अपवाद भी हैं जो संभावित निवेशकों को नीतिगत निर्देशों को लेकर भ्रमित रखते हैं। पिछले सप्ताह मंगलवार को कतर एयरवेज के सीईओ अकबर अल बकर ने कहा कि उनकी कंपनी एक साल तक देश में विमान सेवा शुरू करने की अनुमति की प्रतीक्षा करेगी, उसके बाद वह दूसरे बाजार तलाश करेगी। कतर ने इस वर्ष मई में विमानन कंपनी खोलने के लाइसेंस की चाह जताई थी लेकिन कोई प्रगति नहीं हुई है। उन्होंने दिल्ली में संवाददाताओं से बातचीत में देश की विमानन नीति की अतार्किकता की ओर संकेत किया।

यह किसी भी सूचीबद्ध विमानन कंपनी के लिए 100 फीसदी प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की बात करती है लेकिन केवल तभी जबकि निवेशक विदेशी विमानन कंपनी न हो। विदेशी विमानन कंपनियां देश के उभरते विमानन बाजार में हिस्सेदारी चाहती हैं लेकिन उनको संयुक्त उद्यम में भारतीय कंपनियों के साथ 49:51 की हिस्सेदारी करनी होती है। अल बकर को शायद सन 2013 के 'कॉमा विवाद' के बारे में जानकारी नहीं है। उस वर्ष के प्रेस नोट क्रमांक 6 के चलते नई भारतीय विमानन कंपनियां कारोबार में शामिल हो सकती थीं। इससे पुरानी घरेलू विमानन कंपनियां परेशान थीं क्योंकि वे प्रतिस्पर्धियों को दूर रखना चाहती थीं। नोट में कहा गया है, 'भारत सरकार ने यह इजाजत देना तय किया है कि विदेशी विमानन कंपनियां भी भारतीय कंपनियों, में पूंजी लगा सकती हैं, जो अधिसूचित और गैर अधिसूचित विमान परिवहन सेवा चला रही हों, यह चुकता पूंजी के 49 फीसदी के बराबर होगा।'

यहां भारतीय कंपनियों के बाद लगा अद्र्घविराम एक ऐसी बात थी जिसकी उम्मीद देसी प्रतिस्पर्धियों ने नहीं की थी। केवल मौजूदा भारतीय विमानन कंपनियों को विदेशी निवेश का हकदार होने के बजाय इस विराम चिह्न ने नीति को किसी नई घरेलू विमानन कंपनी के लिए भी खोल दिया था। पुरानी कंपनियों की चिंता जायज थी क्योंकि इसने हालात को बदल दिया था। इसके बाद ही सिंगापुर एयरलाइंस और टाटा समूह ने साथ मिलकर विस्तारा शुरू की। उस वक्त जब मीडिया ने तत्कालीन विमानन मंत्री अजित सिंह से इस अद्र्घविराम के बारे में सवाल किए तो उन्होंने बस इतना कहा कि उन्हें भी अंग्रेजी आती है। देश की विमानन नीति ऐसी व्याकरणात्मक चतुराई पर निर्भर थी। घरेलू बाजार में अगर एक पूर्ण विदेशी स्वामित्व वाली विमानन कंपनी भी हो तो इससे क्या समस्या है? सरकार ने कभी इस बारे में साफ तौर पर कोई बात नहीं की। आखिर, 49 फीसदी हिस्सेदारी भी विदेशी प्रबंधन भागीदारी को शायद ही कम करेगी। कतर ने

इंडिगो के साथ गठजोड़ करने में रुचि दिखाई थी लेकिन देश की सबसे बड़ी घरेलू विमानन कंपनी ने कोई उत्साह नहीं दिखाया। अल बकर का कहना है कि उनकी कंपनी अल्पांश हिस्सेदारी में रुचि नहीं रखती। उन्होंने संकेत दिया कि कतर भारत में विमान परिचालन में प्रमुख भूमिका निभाना चाहता है।

अमेरिका और कुछ यूरोपीय बाजारों में विदेशी विमानन कंपनियों को घरेलू मार्गों पर सीमित पहुंच उपलब्ध कराना सुरक्षा से जुड़ा मसला है जबकि भारत में यह भारतीय प्रबंधन से जुड़ी अस्पष्ट चिंताओं का मसला है। हालांकि इंडिगो समेत अधिकांश घरेलू विमानन कंपनियां विदेशी सीईओ द्वारा ही संचालित की जा रही हैं और वे कई विदेशी विमान चालकों की सेवाएं भी लेती हैं। एफडीआई को लेकर दुविधा की बात करें तो खुदरा कारोबार को छोड़कर शायद ही कोई क्षेत्र नीति निर्माताओं की दुविधा को इस कदर प्रकट करता होगा। यहां नीतियां चार स्तरों पर काम करती हैं। पहला, थोक खुदरा जो अन्य खुदरा कारोबारियों को आपूर्ति करता है। सरकार ने इस क्षेत्र में 100 फीसदी एफडीआई की इजाजत दी है। दूसरा, बहुब्रांड खुदरा में एफडीआई की सीमा 51 फीसदी है लेकिन इसके साथ ढेर सारी शर्तें भी हैं। तीसरा, है एकल ब्रांड। इसमें 100 फीसदी एफडीआई की इजाजत दी गई है लेकिन स्वचालित मार्ग से। यह भी कुछ शर्तों के अधीन है। जनवरी तक एकल ब्रांड में एफडीआई खुदरा पर 49 फीसदी की सीमा थी (शेष 51 फीसदी हिस्सेदारी हासिल करने के लिए इजाजत की आवश्यकता थी)। इसे एक बड़ा सुधार माना गया।

चौथा है, ई-कॉमर्स बाजार के लिए पूरी तरह अलग नीतिगत ढांचा। इसमें बी2बी (बाजार आधारित मॉडल) और बी2सी (इन्वेंटरी मॉडल) शामिल हैं। इनमें से पहले में 100 फीसदी एफडीआई की इजाजत है। एमेजॉन और वॉलमार्ट इसी आधार पर काम कर रही हैं। परंतु दूसरे के लिए एफडीआई पर पूरी तरह रोक है। ये कई शर्तों के अधीन हैं। खुदरा क्षेत्र में वैश्विक रुझान अभिसरण का है लेकिन हमारे यहां ऐसी नहीं प्रतीत होता। बात चाहे विदेशी विमानन कंपनियों की हो या खुदरा क्षेत्र की, चिंता का विषय यही है कि घरेलू कारोबार को कैसे बचाया जाए। खासतौर पर छोटे कारोबारियों और किराना स्टोर को। कोई सरकार यह बताने में सफल नहीं रही है कि आखिर क्यों बड़ी घरेलू खुदरा शृंखलाएं वह प्रभाव नहीं छोड़ पाई हैं जो विदेशी खुदरा शृंखलाएं। अगर उपभोक्ता राष्ट्रवाद से प्रभावित होते तो ओनिडा और वीडियोकॉन के टीवी आज भी सबसे अधिक बिक रहे होते। कारों के बाजार में हिंदुस्तान मोटर्स का दबदबा होता और विमानन में एयर इंडिया का। इतना ही नहीं मैकडॉनल्ड्स और डोमिनोज पिज्जा बहुत पहले भारत छोड़ गए होते। क्या लोकतांत्रिक सरकारें इसकी चिंता भी करती हैं कि लोग क्या सोचते हैं?

Date: 13-09-18

राष्ट्रीय सहारा

नेपाल की अपरिपक्वता

संपादकीय

नेपाल ने पुणो में चल रहे ‘‘बिम्सटेक’ देशों के पहले संयुक्त सैनिक युद्धाभ्यास के लिए अपनी फौज भेजने से इनकार करके कूटनीतिक अपरिपक्वता का परिचय दिया है। पिछले महीने ही नेपाल की राजधानी काठमांडू में इस क्षेत्रीय समूह का शिखर सम्मेलन आयोजित हुआ था। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने इसमें भाग लेते हुए संयुक्त सैनिक युद्धाभ्यास की घोषणा की थी। इसका उद्देश्य क्षेत्र में आतंकवाद की चुनौती से निपटने में आपसी सहयोग बढ़ाना है। समूह के सभी सदस्य देशों ने सर्वसम्मति से इस प्रस्ताव का समर्थन किया था, लेकिन इस बीच ऐसा क्या हो गया है कि नेपाल को इसका बहिष्कार करना पड़ा। जाहिर है, नेपाल के इस कदम ने भारत समेत इस क्षेत्रीय समूह को दुविधाजनक स्थिति में डाल दिया है। हालांकि भारत ने इस पर कड़ी प्रतिक्रिया जताते हुए कहा है कि नेपाल ने बिम्सटेक के सर्वसम्मति से पारित प्रस्ताव का उल्लंघन किया है। नेपाल की ओर से दी गई सफाई भी कम हास्यास्पद नहीं है। कहा गया है कि विरोधी दलों और मीडिया के विरोधी रुख के कारण यह फैसला लेना पड़ा।

दरअसल, सचाई यह है कि इस क्षेत्रीय समूह के बीच सुरक्षा और प्रतिरक्षा सहयोग बढ़ाने के भारतीय प्रस्ताव से नेपाल का वर्तमान नेतृत्व सहमत नहीं है। सच यह भी है कि नेपाली प्रधानमंत्री के. पी. शर्मा ओली दो हजार पंद्रह की आर्थिक नाकेबंदी की घटना से अब तक उबर नहीं पाए हैं। ओली इसके लिए प्रधानमंत्री मोदी की सरकार को जिम्मेदार मानते रहे हैं। नेपाल का चीन के करीब जाने के पीछे आर्थिक नाकेबंदी की निर्णायक भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता। ध्यान रखने वाली बात है कि नेपाल की आर्थिक नाकेबंदी के समय ओली वहां के प्रधानमंत्री थे। अभी पिछले दिनों ही चीन ने नेपाल की वस्तुओं की आवाजाही के लिएअपने चार बंदरगाह खोल दिए हैं। जाहिर है कि चीनी बंदरगाहों की सुविधा मिलने के बाद नेपाल की भारत पर निर्भरता कम हो जाएगी। लेकिन नेपाली नेतृत्व को ध्यान रखना चाहिए कि चीन और नेपाल की भौगोलिक दूरी एक बड़ा मुद्दा है। बिम्सटेक के फौजी युद्धाभ्यास का बहिष्कार और चीन के साथ इसी महीने युद्धाभ्यास की अनुमति देकर नेपाल के नेतृत्व ने अपने को अविश्वसनीय बना दिया है। अब नेपाल के प्रति भारत का रुख भी वैसा ही रहेगा।

Date: 13-09-18

Live हिन्दुस्तान .com

भारत और चीन को संतुलित करने में नाकाम होता नेपाल

राजीव मिश्र, पूर्व सीईओ, लोकसभा टीवी

नेपाल ने चीन से उसके चार बंदरगाहों व तीन लैंड पोर्ट के इस्तेमाल की इजाजत हासिल कर ली है। नेपाल भले ही इससे अंतरराष्ट्रीय व्यापार के कुछ और वैकल्पिक रास्ते बनाने की बात कह रहा हो, लेकिन इस कदम को भारत की सामरिक चिंताएं बढ़ाने वाला ही माना जाएगा। हालांकि काठमांडू में एक चर्चा यह भी है कि इस कदम के बाद नेपाल को भारत के साथ चल रही परियोजनाओं में अधिक मोल-भाव करने का मौका हासिल हो सकेगा। नेपाल के प्रधानमंत्री केपी ओली ने इस वर्ष की शुरुआत में यह कहा भी था कि वह चीन के साथ संबंधों को प्रगाढ़ बनाकर नए अवसर तलाशेंगे और भारत के साथ पहले हुए समझौतों में अधिक फायदा लेने की कोशिश करेंगे।

लेकिन इससे जुड़ा हुआ असल सवाल यह है कि क्या चीन के इन बंदरगाहों का इस्तेमाल नेपाल के लिए व्यापारिक रूप से फायदेमंद है? चीन ने नेपाल के लिए जो बंदरगाह आवंटित किए है, उनमें सबसे करीबी तियानजिन नेपाली सीमा से लगभग 3,000 किलोमीटर दूर है। वहीं, भारत के कोलकाता की दूरी नेपाल सीमा से करीब 700 किलोमीटर और विशाखापट्टनम की दूरी लगभग 1,200 किलोमीटर है। जाहिर है कि यह दूरी आयात और निर्यात, दोनों मामलों में नेपाल को महंगी पड़ने वाली है। यह दूरी एक ही सूरत में फायदेमंद हो सकती है, जब चीन नेपाल के लिए कुछ अतिरिक्त ढांचागत सुविधाएं तैयार करे। यह भी कहा जा रहा है कि चीन अपनी महत्वाकांक्षी बेल्ट ऐंड रोड परियोजना में भारत को शामिल करने के लिए दबाव बना रहा है और नेपाल को दी जा रही सुविधाएं उसी का हिस्सा हैं।

लेकिन फिलहाल मुद्दा भारत के प्रति नेपाल के बदलते रवैये का है। नेपाल ने बिम्सटेक शिखर सम्मेलन के दौरान भारत के साथ संयुक्त सैन्य अभ्यास में भाग लेने पर सहमति जताई थी और फिर अचानक फैसला बदल दिया। ऐसा नहीं है कि ये सारी चीजें अचानक हो रही हैं। केपी शर्मा ओली की सरकार बनते ही यह साफ हो गया था कि नेपाल की नीतियों में अब चीन के प्रति झुकाव दिखाई देगा। यह कहा जाता है कि मधेसी आंदोलन और नाकाबंदी को भारत की रणनीति बताकर ओली नए नेपाली राष्ट्रवाद के नायक बने थे। अब चीन की मदद को पहाड़ी नेपालियों के बीच फायदेमंद सौदे के तौर पर प्रचारित कर इसका राजनीतिक लाभ लेने का मौका भी वह शायद छोड़ना नहीं चाहते।

नेपाल का व्यापार घाटा पहली बार 10 अरब डॉलर को पार कर गया है। महज पांच वर्ष पहले नेपाल का व्यापार घाटा 4.87 अरब डॉलर था, यानी पांच वर्ष में दोगुने से ज्यादा हो गया है। इस दौरान आयात भी दोगुना बढ़ा है, जबकि निर्यात में मामूली वृद्धि ही हुई। नेपाल का आयात 2013-14 में 5.57 अरब डॉलर का था, जो अब 11.28 अरब डॉलर का हो गया है। निर्यात 2013-14 में 70.31 करोड़ डॉलर था, अब 73.75 करोड़ डॉलर ही पहुंच सका है। अब आयात व निर्यात के लिए नेपाल ने चीन में जो वैकल्पिक रास्ते खोजे हैं, वे उसकी आर्थिक समस्या को बढ़ा देंगे। एक तरफ उसे आयात के लिए ज्यादा रकम खर्च करनी होगी, तो वहीं दूसरी तरफ उसका निर्यात महंगा हो जाएगा।

नेपाल दुनिया की दो बड़ी आर्थिक ताकतों का पड़ोसी है और इनमें से किसी से भी उसके शत्रुतापूर्ण रिश्ते नहीं हैं। वह चाहे, तो समझदारी दिखाकर इस स्थिति का फायदा उठा सकता है। शुरू में नेपाल ऐसा करता हुआ दिखा भी। नेपाल और चीन के बीच इस वर्ष टापनी प्रवेश बिंदु को शुरू करने को लेकर समझौता हुआ और केरूंग और रासूवगढ़ी में बेहतर आधारभूत ढांचा खड़ा करने पर भी सहमति बनी। एक समझौता दोनों देशों में रेल ढांचा विकसित करने को लेकर हुआ है। लेकिन समस्या तब शुरू हुई, जब नेपाल ने इसे संतुलित करने की बजाय रिश्तों को चीन के पक्ष में झुकाना शुरू कर दिया। वह भी उस समय जब भारत को नजरंदाज करना उसके लिए कई तरह से महंगा सौदा साबित हो सकता है। नेपाल के कुल विदेशी व्यापार में भारत की हिस्सेदारी 66 प्रतिशत की है। इसके अलावा भारत में करीब 60 लाख नागरिकों को रोजगार मिला हुआ है। फिर भी उसके लिए नेपाल का महत्वपूर्ण हो जाना अच्छा संकेत नहीं।

Date:13-09-18

THE HINDU

Sage advice

Raghuram Rajan's suggestions on preventing a financial crisis must be heeded

Editorial

Former RBI Governor Raghuram Rajan's note of caution on the next financial crisis that could be building up needs to be taken in all seriousness. In his note to Parliament's Estimates Committee on bank non-performing assets (NPAs), Mr. Rajan has flagged three major sources of potential trouble: Mudra credit, which is basically small-ticket loans granted to micro and small enterprises; lending to farmers through Kisan Credit Cards; and contingent liabilities under the Credit Guarantee Scheme for MSMEs, run by the Small Industries Development Bank of India. The disbursement under Mudra loans alone is □6.37 lakh crore, which is over 7% of the total outstanding bank credit.

These loans have been sanctioned under the Pradhan Mantri Mudra Yojana, which aims to 'fund the unfunded', and is a signature scheme of the NDA government. Given that these are small loans up to □10 lakh each, with the borrowers mostly from the informal sector, banks have to monitor them very closely. It is debatable whether banks have the resources and manpower to do this when they are chasing the bigger borrowers for business and, increasingly these days, recoveries. The risk is that these small-ticket loans will drop under the radar and build into a large credit issue in course of time. The same logic holds true for crop loans made through Kisan Credit Cards. Mr. Rajan's advice on loan waivers has been made by him and others in the past. But the political class has chosen to turn a deaf ear to this advice, vitiating the credit culture and creating a moral hazard where farmer-borrowers assume that their loans will invariably be waived off.

The former RBI Governor has strongly defended the RBI against criticism, often unfair, over its policies on NPA recognition and resolution. He rightly termed as "ludicrous" the allegations that the economy slowed down because of the RBI. Recognition is the first step in a clean-up, and unless banks are cleaned of their non-performing loans, they cannot make fresh loans. The Central government should also take

note of some forward-looking statements that Mr. Rajan has made on the governance of banks. Among his suggestions to avert a recurrence of the current mess are, professionalising bank boards with appointments done by an independent Banks Board Bureau; inducting talent from outside banks to make up for the deficit within; revising compensation structures to attract the best talent; and ensuring that banks are not left without a leader at the top. It is a comment on the state of our polity that despite the important issues that Mr. Rajan raised, political parties have chosen to pick only the points that are convenient to them — about the period when these bad loans were made and the purported inaction over a list of high-profile fraud cases highlighted by him.

Date: 13-09-18

Prison of patriarchy

Why India's female workforce participation is so low

Veena Venugopal, (The writer is an Associate Editor with The Hindu in New Delhi)

Last week Ram Kadam, a BJP MLA from Maharashtra, told the men in an audience that if they were interested in women who didn't reciprocate the feeling, he would help kidnap the women, so they could marry. While the video of this speech provoked outrage when it leaked on social media, the truth is that Mr. Kadam was only describing in crude terms the reality of marriage for a large percentage of Indian women, where usually the preferred form of spousal captivity is financial. Marriage is a career stopper for the majority of Indian women and this cultural abhorrence towards women working is a not-so-subtle way of ensuring that the escape routes out of a marriage are minimised, if not entirely closed. India's female workforce participation is among the lowest in the world.

The Economic Survey 2017-18 revealed that women comprise only 24% of the Indian workforce. In fact, as India grows economically, the number of women in workplaces is declining steadily. This, even though the enrolment of girls in higher education courses is growing steadily — to 46% in 2014 from 39% in 2007. In India's leaking pipeline of women employees, the first and most significant drop-off point is between the junior and middle management levels. A survey by Catalyst, a management consultancy firm, pegged this number at a whopping 50%, compared to 29% in other Asian economies.

When plotted against life milestones, this often corresponds to the time women choose to get married. The cultural baggage about women working outside the home is so strong that in most traditional Indian families, quitting work is a necessary precondition to the wedding itself. Also, counter-intuitively, this phenomenon is far more significant in higher income demographics, implying that the richer the family is, the lower the chances that they allow women to pursue a career. In low-income families, economic pressure sometimes trumps social stigma. Childbirth and taking care of elderly parents or in-laws account for the subsequent points where women drop off the employment pipeline.

On the macroeconomic level, this suggests that we're giving up on a 27% boost to the country's GDP. At the individual level, without any recourse to financial means, women stay tethered to the family. Ending a marriage is such a daunting task — socially and legally — that even the thought of embarking on it without financial independence is terrifying. The Supreme Court has set a benchmark of 25% of a husband's net salary as a "just and proper" amount for alimony, leaving divorced women with full custody of the children at a quarter of the family income. Much credit for India's low divorce rate goes to this Stockholm syndrome-like situation of Indian marriages. In that sense at least, MLA Kadam should be credited for simply getting straight to the point.

Date: 13-09-18

Drawing a curtain on the past

In striking down Section 377, the Supreme Court has recognised the Constitution's extraordinary transformative power

Suhrith Parthasarathy, (Suhrith Parthasarathy is an advocate practising at the Madras High Court)

In a rousing address to the Constituent Assembly on November 25, 1949, Dr. B.R. Ambedkar laid out his transformative vision for the Constitution. The document, he said, ought to serve as a lodestar in the endeavour to make India not merely a political but also a social democracy. He saw liberty, equality and fraternity as principles of life, as a collective "union of trinity". "To divorce one from the other," he said, "is to defeat the very purpose of democracy." Now, 71 years after Independence, these values that Ambedkar saw as integral to India's republic, find new meaning in a remarkable judgment of the Supreme Court in Navtej Singh Johar v. Union of India. Not only has the court struck down the wretchedly wicked Section 377 of the Indian Penal Code, insofar as it criminalises homosexuality, but it has also recognised the Constitution's enormous and extraordinary transformative power. In doing so, the court has provided us with a deep expression of democratic hope. And perhaps we can finally believe, as Nehru said, in his famous midnight speech, that "the past is over, and it is the future that beckons to us now".

Macaulay's shadow

Plainly read, Section 377 punishes with imprisonment for life or for a term of up to 10 years any person who voluntarily has "carnal intercourse against the order of nature with any man, woman or animal". Over the years, the term, "against the order of nature", has been used to persecute members of the LGBTQ community, treating any non-procreative sexual act by them as acts of crime. Thomas Macaulay, the law's drafter, despised the idea of even a debate on the legislation's language. "We are unwilling to insert, either in the text, or in the notes, anything which could give rise to public discussion on this revolting subject," he wrote in his chapter on "unnatural offences". "...We are decidedly of the opinion that the injury which would be done to the morals of the community by such discussion would far more than compensate for any benefits which might be derived from legislative measures framed with the greatest precision."

Like many other colonial-era laws, therefore, Section 377 was inserted with a view to upholding a distinctly Victorian notion of public morality. But post-Independence, the law remained on the books, as

an edict that the Indian state saw as intrinsic to the enforcement of its own societal mores. The criminal law, the government believed, was a legitimate vehicle through which it could impose and entrench in society its own ideas of what constituted a good life. Societal morality, to it, trumped constitutional guarantees of equality and liberty.

Long road to freedom

In July 2009, however, the Delhi High Court, in a judgment delivered by a bench comprising Chief Justice A.P. Shah and Justice S. Muralidhar, rejected this vision, and declared Section 377, insofar as it criminalised homosexuality, unconstitutional. In the court's belief, the law was patently discriminatory. It offended not only a slew of explicitly guaranteed fundamental rights — in this case, Articles 14, 15, 19 and 21 — but also what the judgment described as "constitutional morality". "Moral indignation, howsoever strong, is not a valid basis for overriding individual's fundamental rights of dignity and privacy," the court wrote. "In our scheme of things, constitutional morality must outweigh the argument of public morality, even if it be the majoritarian view."

At the time this was a grand statement to make. Indeed, barely four years later, the Supreme Court reversed the findings in Naz, and rendered the judgment's radical vision nugatory. In a shattering verdict, the court, in Suresh Kumar Koushal, once again declared homosexuality an offence. LGTBQ persons, to the court, constituted only a "miniscule minority", and they enjoyed, in the court's belief, neither a right to be treated as equals nor a right to ethical independence, a freedom to decide for themselves how they wanted to lead their lives.

But now, in Navtej Singh Johar, the court has restored both the quotidian and the outstanding glories of the judgment in Naz. Unexceptionally, Section 377, it has found, infringes the guarantee of equality in Article 14, the promise against discrimination in Article 15, the right to free expression contained in Article 19, and the pledges of human dignity and privacy inherent in Article 21. But, perhaps, more critically, the court has taken inspiration from Naz in bringing to the heart of constitutional interpretation a theory that seeks to find how best to understand what equal moral status in society really demands, a theory that engages profoundly with India's social and political history.

Interpreting the Constitution

The question of how to interpret a constitution, any constitution, is an age-old one. The Indian Constitution couches its guarantee of fundamental rights in abstract terms. For instance, the Constitution doesn't expressly tell us what equality, in Article 14, means. Does it mean merely a formal equality, or does it promise a more substantive equality, demanding the state's proactive participation?

Until now, in the absence of a coherent theory of interpretation, judges have vacillated in answering such questions. But the four separate opinions in Navtej Singh Johar, written respectively by Chief Justice of India Dipak Misra and Justices R.F. Nariman, D.Y. Chandrachud and Indu Malhotra, collectively espouse an interpretive model that gives to India's history its full consideration. The Constitution "was burdened with the challenge of 'drawing a curtain on the past' of social inequality and prejudices," Justice Chandrachud wrote, invoking Professor Uday Mehta. The document, therefore, was an "attempt to reverse the socializing of prejudice, discrimination and power hegemony in a disjointed society." Or, as Chief Justice Misra put it: "The adoption of the Constitution was, in a way, an instrument or agency for achieving constitutional morality and [a] means to discourage the prevalent social morality at that time. A country or a society which embraces constitutional morality has at its core the well-founded idea of

inclusiveness." The idea, therefore, is, similar to what the South African courts have held, to eliminate all forms of discrimination from the social structure, and to usher society from degrading practices of the past into an egalitarian future.

There is a danger, many believe, that this theory of interpretation could allow judges to turn into philosopher-kings, allowing them to impose their moral convictions on society. But, as Ronald Dworkin has observed, a strategy of interpretation which partakes a consideration of both text and history is really a "strategy for lawyers and judges acting in good faith, which is all any interpretive strategy can be".

Future disputes will certainly have to be guided by the court's general rule prescribed in Navtej Singh Johar. The court has already reserved its judgment in a number of cases that will tell us how it intends on applying this theory. Its decision in cases concerning the entry of women into the Sabarimala temple, on the practice of female genital mutilation of minor girls in the Dawoodi Bohra community, on the validity of the Indian Penal Code's adultery law, will all prove telling. Yet, much like the challenge to Section 377, the issues at the core of these cases are scarcely controversial as a matter of pure constitutional interpretation. Ultimately, therefore, the true value of Navtej Singh Johar will only be seen when the court sees this theory as integral to its ability to judge clashes between the naked power of the state and personal liberty, to cases such as the challenge to the Aadhaar programme, which seek to reverse the transformation that the Constitution brings. There too, as Chief Justice Misra has written, the court must be "guided by the conception of constitutional morality".